

यह लेख पाठ्यपुस्तकों में पहली बार आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र और दलित विमर्श को मिली जगह को रेखांकित करता है तथा संसद में हुए कार्टून विवाद को सभी पाठ्यपुस्तकों पर हमले की तैयारी मानता है। साथ ही लेख इस बहस को भविष्य में बेहतर पाठ्यपुस्तक निर्माण के प्रयासों को हतोत्साहित करने वाले कदम के तौर पर देखता है।

## बगुला-भगती में परायण

सतीश देशपाण्डे

**ता**जातरीन कार्टून विवाद के सन्दर्भ में तीन अलग-अलग दृष्टिकोण सामने आए हैं। एक दृष्टिकोण उस दलित दावे पर केंद्रित है, जिसकी गूंज ऊंची रही है और जिसने बड़ी फुर्ती के साथ इस प्रश्न पर राजनैतिक सहमति गढ़ी है। अन्य दो दृष्टिकोण शिक्षा से जुड़े हैं, परन्तु स्कूल, स्कूली बच्चे एवं पाठ्यपुस्तकें कैसी हैं और कैसी होनी चाहिए; इसके संबंध में इन दोनों के विचार परस्पर विरोधी हैं। ये दोनों दृष्टिकोण स्वाभाविक रूप से एक-दूसरे के शत्रु प्रतीत होते हैं। जबकि दलित परिप्रेक्ष्य को देखने से ऐसा लगता है कि वह अन्य दो में से किसी का भी सहचर हो सकता है। दूरगामी प्रक्षेप-पथों का सही मूल्यांकन ही एक ऐसे भविष्य को आकार देगा जिसे इच्छा या अनिच्छा से तीनों द्वारा साझा किया जाएगा। परन्तु पहले मतभेदों की चर्चा।

### समानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण

अगर हम मानते हैं कि यह विवाद दलित आग्रह और दावेदारी का निरूपण या तस्दीक है तो फिर यह सोचना बेमानी है कि यह कार्टून 63 साल पुराना है और जिस समय यह पहली बार प्रकाशित हुआ था तब इसका कोई विरोध नहीं हुआ था या कि इसकी संपूर्ण वैकल्पिक व्याख्या भी की जा सकती है। एक समानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण इस बात को समझेगा कि दलितों को इस राष्ट्र में जिस संपूर्ण सदस्यता से लंबे समय तक वंचित रखा जाता रहा है, उसका प्रतीकात्मक

दावा प्रस्तुत करने की उन्हें आवश्यकता महसूस क्यों हो रही है। फिर यह भी स्पष्ट होगा कि यह दावेदारी कभी-कभी पूर्वाधिकार के रूप में ही क्यों प्रस्तुत की जाएगी- इसका कारण है कि निषेधाधिकार पूर्ण सदस्यता का संकेत रहा है और भारतीय समाज के संप्रभु और उच्च जाति-वर्ग के तबके ने ठीक

### परिचय

सतीश देशपाण्डे दिल्ली विश्वविद्यालय में पढ़ाते हैं और एनसीईआरटी की समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तकों के सलाहकार हैं।

इसी तरह के निषेधाधिकारी आग्रहों से अक्सर खुद को तृप्त किया है। आज अगर दलित समुदाय अपने इस निषेध-अधिकार का इजहार अपमानजनक कार्टून पर संभावित प्रतिबंध लगाकर करता है और 'सामुदायिक भावनाओं' का सहारा अपने प्रतिपक्ष के तर्कों को काटने के लिए अथवा मुद्दे पर बहस को टालने के लिए लेता है तो उसे ऐसा करने का पूरा अधिकार है। बहुतों को अपमानजनक और शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से अनावश्यक लग रहे कार्टून को हटाने के लाभ दलित आग्रह के सामाजिक रूप से वांछित लक्ष्य हासिल करने में कहीं अधिक सार्थक साबित होंगे।

शिक्षा केंद्रित दो परिप्रेक्ष्यों में से एक राजनेताओं के तबके से जोर-शोर और स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो रहा है। इस दृष्टिकोण के अनुसार जिन पाठ्यपुस्तकों में ये कार्टून तथाकथित आलोचनात्मक विचारों को उकसाने प्रयासों के तौर पर सम्मिलित किए गए हैं, वे न केवल 'कोमल मनो' में विष भरने वाले' हैं बल्कि 'जनतंत्र को भी जोखिम में डालने वाले' हैं। दलित विमर्श के सहयोजन की आड़ में और उसे सभी पाठ्यपुस्तकों पर एक रणनीतिक तौर पर व्यापक हमले में तब्दील करते हुए यह परिप्रेक्ष्य सत्ता की ताकत को जनतंत्र के और शिक्षण को अनुपालना के तुल्य बनाता है। स्कूली बच्चों को यह सिखाया ही जाना चाहिए कि कैसे वे राजनेताओं का आदर करें, उनको पूज्य मानें, व्यंग्यचित्रकारों को कैसे नजरअंदाज करें और कैसे मीडिया से आंखें मूंद लें और यदि कोई शिक्षक अथवा उनकी पाठ्यपुस्तकें इस लक्ष्य से विमुख करने की हिमाकत करते हैं तो उन्हें सबक सिखाना ही चाहिए- सो ऐसे ही प्राध्यापक सुहास पलशीकर को उनके कार्यालय की पुनः सज्जा कर, फिर से शिक्षित करने का प्रयास किया गया।

तीसरी आवाज, जिन किताबों पर हमला किया जा रहा है उनके लेखकों और उनकी हिमायत करने वालों की है जो न तो इस समय गरजदार है और न ही तीव्र है क्योंकि वे ऐसे सवालों से जद्दोजहद कर रहे हैं जिनके कोई तैयारशुदा जवाब नहीं हैं : अपरिवर्तनीयता द्वारा नियंत्रित ऐसी शिक्षा व्यवस्था जो एक तरफ तो अपनी आलोचना को आमंत्रित करती है और दूसरी तरफ उसे सहने का साहस भी नहीं रखती, उसमें आलोचनात्मक और प्रयोगधर्मी शिक्षाशास्त्र कैसे कायम रखा जाए? सत्ताधीश जब-जब खीजें तब-तब उस व्यवस्था को निष्क्रिय अनुशीलन से कैसे रोका जाए? जब छुपी हुई मानसिकता और उसके परिणाम एक जैसे लगते हों तब विभिन्न विरोधी पक्षों में अंतर करना क्या जरूरी और संभव है? अगर सैकड़ों शिक्षकों के महिनो-महिनो और सालो-साल के अथक सामूहिक परिश्रम से बनी दर्जनों पाठ्यपुस्तकों को दुराग्रही सत्ताधीशों द्वारा महज कुछ ही दिनों में मिटा दिया जाएगा तो क्या आगे से कभी भी कोई स्कूली शिक्षा के साथ किसी भी किस्म की जद्दोजहद करने का प्रयास भी करेगा?

**अगर सैकड़ों शिक्षकों के महिनो-महिनो और सालो-साल के अथक सामूहिक परिश्रम से बनी दर्जनों पाठ्यपुस्तकों को दुराग्रही सत्ताधीशों द्वारा महज कुछ ही दिनों में मिटा दिया जाएगा तो क्या आगे से कभी भी कोई स्कूली शिक्षा के साथ किसी भी किस्म की जद्दोजहद करने का प्रयास भी करेगा?**

## हकशफा प्रतिबंध

ये तीनों ही पक्ष जिस विस्तृत क्षितिज पर स्थित हैं वह इस तथ्य से परिभाषित हो रहा है कि इस गहमागहमी की घड़ी में आभासित होने वाले सहयोगियों के बीच से सच्चे सहयोगी ढूंढना मुश्किल है। सतही स्तर पर दलित समूह और बहुरूपिया राजनेताओं का वर्ग साथ-साथ कदमताल करते नजर आते हैं। शंकर के इस कार्टून के खिलाफ हुए शुरुआती दलित विरोध के समर्थन से इस गठबंधन का श्रीगणेश हुआ और जब पुणे विश्वविद्यालय के परिसर में भारतीय रिपब्लिकन पेंथर पार्टी के कार्यकर्ताओं ने जो हुड़दंग मचाया तब उसकी किसी राजनैतिक दल ने निंदा नहीं की, इस हकीकत से इस गठबंधन को मजबूती मिली। परन्तु अच्छा होगा कि दलित और गैर-दलित संगठन और उनके हितचिंतक इसके आगे सोचें। ये हकशफा प्रतिबंध आज से

**आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र  
ने निम्नवर्गीय हाशिए के  
परिप्रेक्ष्यों को और खासकर  
दलित विचार-विमर्श को  
एक वितान बनाने में मदद  
की है। उसने कम से कम  
स्कूली पाठ्यपुस्तकों का  
जितना भी मर्यादित दायरा  
है, उसमें मुद्दों के बाद  
अंबेडकर को वह स्थान  
मिल पाया जिसके वे अर्से  
से हकदार थे।**

दलित और गैर-दलित संगठनों की एकता को परिणित कर रहे हैं। कल यही प्रतिबंध बीते कल की पाखंडी पाठ्यपुस्तकों की वापसी सुनिश्चित करेंगे और चूंकि उबाऊ पाखण्ड से ये पाठ बेजान हो चुके होंगे तो वे किसी भी प्रतिस्पर्धात्मक रोष का ज्वालामुखी फटने के खतरे से बचाने के लिए आदर्श संरक्षक कवच साबित होंगे। जो पाठ्यपुस्तकें किसी के लिए भी किसी किस्म की जद्दोजहद करने की गुंजाइश नहीं छोड़ेंगी तो वह किसी को प्रेरणा भी नहीं देंगी।

### **निम्नवर्गीय (सबाल्टन) परिप्रेक्ष्य**

परन्तु क्या इस तरह की पाठ्यपुस्तकें लंबे समय तक हमारे सभी बच्चों, दलित और गैर-दलित के हितों को खाद-पानी दे सकते हैं? दलित उभार की संभावनाओं की वर्तमान स्थितियों से इसका जवाब मिल सकता है। आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र ने निम्नवर्गीय हाशिए के परिप्रेक्ष्यों को और खासकर दलित विचार-विमर्श को एक वितान बनाने में मदद की है। उसने कम से कम स्कूली पाठ्यपुस्तकों का जितना भी मर्यादित दायरा है, उसमें मुद्दों के बाद अंबेडकर को वह स्थान मिल पाया जिसके वे अर्से से हकदार थे। यह उसने सुनिश्चित किया। परन्तु यह संभव हुआ

उन लंबी लड़ाइयों के जरिए जो कभी खुलकर तो कभी छुपकर लड़ी गई, गांधी-नेहरू के बीते जमाने के अनुयायियों के साथ लोहा लेते हुए, जो तब ऐसी फुर्ती के साथ उनके आदर्शों के बचाव में उतरते थे जैसे आज अंबेडकर के अनुयायी उतरे हैं। उदाहरण के लिए, जरा गौर फरमाएं उस वाक्य पर जो अपमानजनक कार्टून से महज पांच सेंटीमीटर की दूरी पर छपा है : “अंबेडकर तो कांग्रेस और गांधी के कड़े आलोचक थे और उन्होंने उन पर अनुसूचित जातियों के उत्थान के लिए पर्याप्त काम न करने का आरोप लगाया था।” 35 साल से अधिक उम्र के पाठकों को अपने-आपसे पूछना चाहिए कि क्या वे उनकी हाईस्कूल की पाठ्यपुस्तकों में से इस प्रकार के कोई वाक्य या ऐसी संवेदनाओं को याद कर पाते हैं।

ऐसे में क्या यह अपेक्षा करना वाजिब नहीं है कि दलित विमर्श आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र के प्रति न केवल सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाए बल्कि सक्रिय प्रतिबद्धताओं के साथ उससे जुड़े? और अब जब दलितों के तमाम संघर्षों का प्रतिफल पूरी तरह से फलित हो रहा है तब यह आशा करना क्या गैर-वाजिब और खामाख्याली माना जाएगा कि दलित विवेक केवल अपने उड़ान को संभव बनाने वाली सीढ़ियां खींच लेने के बजाय निम्नवर्गीय हाशिए के समाजों के भविष्य के उदय को साकार करने में सहायक बनेगा? इन सवालों के जवाब यह तय करेंगे कि क्या हमारे बच्चे भी उसी पाखण्ड की दीक्षा पाएंगे जैसे कभी हमने पाई थी? ♦

**भाषान्तर : प्रज्ञा जोशी**